भूमिका ।

धर्म और अधर्म का प्रश्न बड़ा पेचीदा है। जिस बात को एक समुदाय धर्म मानता है, दूसरा समुदाय उसे अधर्म घोषित करता है। इस पेचीदगी के कारण धर्म का वास्तविक तत्व जानने वाले जिज्ञासुओं को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मानवीय बौद्धिक विकाश के साथ साथ 'क्यों' और 'कैसे' का बहुत प्राबल्य हुआ है। इस युग का मनुष्य सिर्फ इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सकता कि—अमुक पुस्तक में ऐसा लिखा है या अमुक व्यक्ति ने ऐसा कहा है। आज तो तर्क और प्रमाणों से युक्त बुद्धि संगत बात ही स्वीकार की जाती है।

हर एक वस्तु अपना जन्म सिद्ध धर्म अपने साथ रखती है। ईश्वर प्रदत्त जन्मजात स्वभाव को धर्म कहते हैं। इस सचाई को आधार भूत मानकर हमने उसी धर्म का महत्व प्रतिपादित किया है जिसका उपदेश वेद शास्त्रों में दिया गया है। धर्म पालन करना परलोक के लिए ही नहीं इस लोक की उन्नति के लिए आवश्यक है इस तथ्यको प्रतिपादन करनेके लिए हमने शक्ति भर प्रयत्न कियाहै। मनोविज्ञान शास्त्र और समाज शास्त्रके ठोस तथ्यो के आधार पर धर्म के संबध में की हुई यह विवेचना आधुनिक युग की तार्किक संतान को रुचेगी ऐसा हमारा अनुमान है। यदि यह तथ्य अपनी नई पीढ़ी को सदाचार, परमार्थ, और उन्नति की ओर अग्रसर कर सके तो लेखक अपने प्रयास पर प्रसन्न होगा।

—श्री राम शर्मा

क्या धर्म ? क्या अधर्म ?

सच्चिदानन्द की आराधना

वैसे तो धर्म शब्द नाना अर्थों में व्यवहृत होता है पर दार्शनिक दृष्टि से धर्म का अर्थ स्वभाव ठहरता है । अग्नि का धर्म गर्मी है अर्थात् अग्नि का स्वभाव उष्णता है। हर एक वस्तु का एक धर्म होता है जिसे वह अपने जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धारण किये रहती है। मछली का प्रकृतिधर्म जल में रहना है, सिंह स्वभावतः मांसाहारी है। हर एक जीवित एवं निर्जीव पदार्थ एक धर्म को अपने अंदर धारण किये हुये है। धातुएं अपने-अपने स्वभाव-धर्म के अनुसार ही काम करती हैं । धातु-विज्ञान के जानकार समझते हैं कि अमुक प्रकार का लोहा इतनी आग में गलता है और वह इतना मज-बूत होता है, उसी के अनुसार वे सारी व्यवस्था बनाते हैं। यदि लोहा अपना धर्म छोड़ दे कभी कम आग से गले कभी ज्यादा से, इसी प्रकार उसकी मजबूती का भी कुछ भरोसा न रहे तो निस्सन्देह लोहकारों का कार्य असम्भव हो जाय। नदियां कभी पूरब को बहें कभी पश्चिम को, अग्नि कभी गरम हो जाय कभी ठंडी, आप सोचिये कि दुनियां कितनी अस्थिर हो जाय । परन्तु ऐसा नहीं होता . विश्वास का एक-एक —— -अपने नियम धर्म का पालन करने में लगा हुआ है

कोई तिल भर भी इधर से उधर नहीं हिलता। धर्मरहित कोई भी वस्तु इस विश्व में स्थिर नहीं रह सकती।

बहुत काल की खोज के उपरान्त मनुष्य का मूल धर्म मालूम कर लिया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पू मनुष्य अपने मूलभूत धर्म का पालन करने में प्रवृत्त रहते हैं। आपको यह सुन कर कि कोई भी मनुष्य धर्मरहित नहीं है आश्चर्य होता होगा इसका कारण यह है कि आप मनुष्य कृत रीति रिवाजों, मजहबों, फिरकों, प्रथाओं को धर्म नाम दे देते है, यह सब तो व्यवस्थायें हैं, जो वास्तिविक धर्म से बहुत ऊपर की उथली वस्तुयें हैं, आपको वास्तविकता का पता लगाने के लिए एक सत्य शोधक की भा.त बहुत गहरा उतर कर मनुष्य स्वभाव का अध्ययन करना होगा।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि धर्म का अर्थ स्वभाव है। स्वभाव मनुष्यकृत नहीं होता वरन् ईश्वर प्रदत्त होता है। जिस योनि में जैसी शिक्षा प्राप्त करनी होती है उसकी मर्यादायें चारों ओर से खिंची हुई होती है, जिससे नौसिखिए कुछ भूल न कर बैठें। स्कूल के छात्र खेल के घण्टे में जब गेंद खेलते हैं तो अध्यापक उन्हें एक मर्यादित क्षेत्र बता देता है कि इस भूमि मे खेलो, वैसे तो अपनी बुद्धि के अनुसार खेलने, हारने जीतने में खिलाड़ी लोग स्वतन्त्र हैं अध्यापक उसमें हस्तक्षेप नहीं करता पर क्षेत्र जरूर मर्यादित कर देता है, फील्ड छोड़ कर सड़क पर फुटबाल उछालने की वहा व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य ो कुछ स्वाभाविक मर्यादायें हैं, जिनके अन्दर वह भले बुरे ल खेलता है। यही स्वाभाविक मर्यादाऐ दार्शनिक दृष्टि से धर्म कहलाती है। धर्म के अन्तर्गत क्षेत्र में ही मनुष्य के सारे काम ोते हैं, इसमें पाप पुण्य क्या है? और किस प्रकार है? इसकी

विवेचना तो हम अगले पृष्ठों में करेंगे। इस समय तो मूलभूत धर्म के बारे में, ईश्वर दत्त स्वाभाविक मर्यादा के सम्बन्ध में, चर्चा की जा रही है, जिसे जानकर यह निश्चय किया जा सके कि हमें यह मानव देह क्या शिक्षा प्राप्त करने के लिये मिली है।

मनुष्य क्या करने में लगा रहता है, इसका गहरा निरीक्षण करके आध्यात्मिक तत्ववेत्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सच्चिदानन्द' की उपासना में मानव प्राणी हर घड़ी लगा रहता है, एक पल के लिए भी इसे नहीं छोड़ता और न इसके अतिरिक्त और कुछ काम करता है, पाठक अधीर न हों कि सच्चिदानन्द की उपासना तो विरले ही करते हैं, यदि विरले ही करते तो यह बात स्वाभाविक धर्म न रह जाती, फिर इसे मनुष्य कृत मानना पड़ता है। अगली पंक्तियों में यही बताया जा रहा है कि किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सच्चिदानन्द की उपासना करता हुआ अपने धर्म कर्त्तव्य को पालन करने में लगा हुआ है।

सत का अर्थ अस्तित्व, चित्त का अर्थ ज्ञान, और आनन्द का अर्थ सुख है। अपने अस्तित्व की उन्नति में, अपने ज्ञान की वृद्धि में, अपने सुख को बढ़ाने में, ही सब लोग लगे हुए हैं। मनो-विज्ञान शास्त्र के फ्रांसीसी पण्डित सारेन्सस ने मानव प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि-(१) शरीर और मन का सुख प्राप्ति करने, (२) आत्म रक्षा, (३) अपने को सब के सामने प्रकट करने, (४) बड़प्पन पाने, (५) समूह इकट्ठा करने, (६) गुप्त विषयों को जानने, (७) विपरीत योनि से [पुरुष स्त्री से स्त्री पुरुष से] घनिष्टता रखने, (८) साहस करने की इच्छाओं से प्रेरित होकर ही मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। अर्थात मनुष्य को

जितने भी कार्य करते हुए देखते हैं वे सब इन्हीं इच्छाओं के फल मात्र होते हैं। इन आठ वृत्तियों का विभाजन हम इस प्रकार किये देते हैं:—

अस्तित्व-उन्नति के अन्तर्गत—(१) आत्म रक्षा, (२) अपने को प्रकट करना (कीर्ति) (३) बड़प्पन प्राप्त करना।

ज्ञान वृद्धि के अन्तर्गत—(१) गुप्त विषयों का जानना, (२) समूह इकट्ठा करना।

आनन्द बढ़ाने के अन्तर्गत—(१) शरीर और मन सुख, (२) साहस, (३) विपरीत योनि से घनिष्टता।

अब विचार कीजिये कि मनुष्य के समस्त कार्य इस सीमा में आ जाते हैं कि नहीं। हिंसक, दस्यु, आक्रमणकारियों से, आपत्ति से, बचने के लिए लोग घर बनाते, बस्तियों में रहते, शस्त्र रखते, डरते, छिपते भागते वैद्यों, डाक्टरों के पास जाते, राज्य का निर्माण करते, देवी देवताओं की सहायता लेते, युद्ध करते, तथा अन्याय ऐसे प्रयत्न करते हैं, जिससे आत्म रक्षा हो, अधिक दिन जियें, मृत्यु से दूर रहें। कीर्ति के लिए लोक प्रिय बनना, फैशन बनाना, विज्ञापन कराना, अपना ढंग विशेष प्रकार का बनाना, भाषण देना, अपने विचार छापना, लोगों का ध्यान खींचने वाले शब्द अथवा प्रदर्शन करना आदि कार्य किये जाते हैं। गौरव के लिए नेता बनना अपने सरक्षण में छोटे लोगो को लेना, ओहदा प्राप्त करना, संपत्तिवान, बलवान बनना, राज्य सम्पत्ति पाना, गुरु बनना, अपने को पदवीधारी, ईश्वर भक्त, धर्म प्रचारक प्रकट करना आदि कृत्य होते हैं। इस प्रकार आत्मरक्षा, कीर्ति और गौरव प्राप्त करके आत्म विश्वास, आत्म सन्तोष, आत्म उन्नति का उपयोग किया जाता है।

विद्याध्ययन, सत्संग, स्वाध्याय, साधना, अन्वेषण, आविष्कार, खोज, परीक्षण, वाद-विवाद, यात्रा, समारोहों में सम्मिलित होना, नवीन वस्तुओं का देखना, इस श्रेणी के कार्य 'गुप्त विषयों की जानकारी' के लिए होते हैं। समाज में रहना, मित्र बढ़ाना, संगठन में बंधना, दल बनाना, कम्पनी खोलना, साझा करना आदि कार्यों के द्वारा मनुष्य दूसरों की योग्यताओं की जानकारी प्राप्त करना एवं उनकी सामूहिक अनुभूतियों के आधार पर अपनी ज्ञान चेतना में वृद्धि होने का लाभ उठाना चाहता है। इस प्रकार रहस्यान्वेषण को अपना प्रिय विषय बनाकर हम अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की ओर बढ़ना चाहते हैं। अपने संसार के और अदृश्य विषयों के रहस्य से परिचित होने के लिए ज्ञान की तीव्र पिपासा को जीव अपने अन्दर धारण किये हुए है। शिक्षालय, योग साधानाऐं, प्रयोगशालाऐं, पुस्तकें, समाचार पत्र, रेडियो, मनुष्य की इसी महान मानसिक क्षुधा के निवारणार्थ–ज्ञानवृद्धि के निमित्त प्रयत्न कर रहे हैं।

स्वादिष्ट भोजन, शीतोष्ण निवारण के प्रयत्न, वस्त्र, कोमल बिस्तर, सवारी, सेवक आदि शरीर सुख के लिए तथा खेल, तमाशे, नाच रंग, गीत, वाद्य आदि मनोरंजन के लिए होते हैं। त्याग, दान, अद्भुत कार्य, कष्टों का मुकाबिला आदि धीरता वीरता के कार्य साहस प्रदर्शित करने के लिए हुआ करते हैं, पुरुषों का स्त्रियों के सम्बन्ध में और स्त्रियों का पुरुषों के सम्बन्ध में अनेक मार्गों से अधिक दिलचस्पी लेना भी सर्वत्र देखा जाता है, यह खिचाव भी आनन्ददायक समझा जाता है। शरीर सुस्थिर, दीर्घजीवी, आनन्दी एवं उन्नतिशील बनने की क्षमता वाला रहे और मनोरंजन से चित्त हलका होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करने की सामर्थ्य अपने अन्दर धारण

किये रहे, इसलिये अन्तः चेतना स्वयंमेव ऐसा प्रयत्न कर रही है कि शरीर और मन की प्रसन्नता नष्ट न होने पावे।

पाठक सब ओर भली प्रकार दृष्टि दौड़ा कर देख लें, सत्-अस्तित्व की उन्नति, चित्त-ज्ञान की वृद्धि, आनन्द-शरीर और मन की सुख साधना, में ही सब लोग प्रवृत्त मिलेंगे, कोई भी व्यक्ति इस कार्य क्रम से पृथक्-सच्चिदानन्द की उपासना से विरक्ति दिखाई न पड़ेगा। इस जब हम गम्भीर दृष्टि से मनुष्य के स्वभाव-जन्य मूलभूत धर्म की खोज करते हैं, तो 'सच्चिदानन्द की उपासना' इसी तत्व को प्राप्त करते हैं।

पाप पुन्य का भेद

पिछले पृष्ठों पर बताया गया है कि हर एक व्यक्ति चाहे वह भले कर्म करता हो या बुरे निसन्देह सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहा है। मानव जीवन की धारा इसी निश्चित दिशा में प्रवाहित हो रही है, उसका पलटना या बदलना किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं क्योंकि वह ईश्वर प्रदत्त स्वाभाविक धर्म वृत्ति है। मनुष्य जन्म से ही उसे साथ लेकर पैदा होता है।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि जब सभी मनुष्य स्वभाविक धर्म को पालन कर रहे हैं तो फिर पाप पुण्य का, उचित अनुचित का, भले बुरे का, भेद क्यों है ? किन्हीं कार्यों को धर्म और किन्हीं को अधर्म क्यों कहा जाता है ? पापी और पुण्यात्मा का भेद क्यों किया जाता है ? इन प्रश्नों का तात्विक समाधान जानने के लिये हमें भले और बुरे कर्मों के बीच में जो भेद है उसे समझना होगा। वास्तव में कर्म तो

एक भी बुरा नहीं है पर उनको करने की व्यवस्था में अन्तर आ जाने से रूप बदल जाते हैं। एक ही कर्म, व्यवस्था-भेद से पाप भी हो सकता है और पुण्य भी। जैसे "दान देना" एक कर्म है। यदि सत्पात्र को दान दिया जाय तो वह पुण्य हुआ और यदि कुपात्र को दान दिया जाय तो वही पाप है। 'मैथुन एक कर्म है। यदि वह स्वपत्नी के साथ हो तो उचित है किन्तु यदि परपत्नी के साथ हो तो अनुचित है। 'मद्यपान' एक कर्म है। यदि रोग निवृत्ति के लिये औषधि रूप से उसे सेवन किया जाय तो योग्य है किन्तु उन्मत्त होने के लिये उसे पिया जाय तो अयोग्य है। 'हिंसा' एक कर्म है। यदि अत्याचारी, दुष्ट घातक, प्राणी को मार डाला तो उचित है किन्तु उपकारी, हानि न करने वाले, निर्दोष प्राणी को मार डाला जाय तो वह अनुचित है। अदालत की आज्ञानुसार अपराधी को फांसी देने वाला व्यक्ति पापी नहीं होता न सिंह सर्पादि दुष्ट जीवों को हनन करने वाला क्षत्रिय पापी कहा जाता है किन्तु निर्दोष को मारने वाला अपराधी ठहराया जाता है। परोपकार के लिये, धर्म कार्य के लिये, विवेक पूर्वक यदि चोरी, ठगी, झूठ, छल का भी आश्रय लेना पड़े वह अधर्म नहीं ठहरता। पाठक गंभीरता पूर्वक विचार करेंगे तो उनकी समझ में यह बात भली प्रकार आजायगी कि जितने भी कार्य मनुष्य द्वारा होते हैं वे कर्म स्वतः भले या बुरे नहीं है पर उसका प्रयोग जिस रूप में किया जाता है उसके अनुसार वे पाप पुण्य बन जाते हैं।

दो रसोइया भोजन बनाते हैं। एक का भोजन अच्छा बना दूसरे ने अज्ञान से उसमें बहुत सी त्रुटियां रहने दीं। खाने वाले अच्छा भोजन बनाने वाले की प्रशंसा करेंगे, उसे सुयोग्य ठहरावेंगे। परन्तु जिसने भोजन बनाने में बहुत सी भूलें

लगा हुआ है। इन तीन को प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके सारे काम होते हैं। उन कार्यों में कौन अनुचित है ? कौन उचित ? किनको करने से समुचित इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है ? किन को करने से उलटी हानि उठानी पड़ती है ? इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्थ भावना से किये हुए काम ही उत्तम एवम इष्ट सिद्धि प्रदान करने वाले हैं। गीता के कर्मयोग का यही सारांश है।

❋ मध्यम मार्ग ❋

यात्रा का नियम है कि मध्यम वृत्ति से कदम उठाये जांय, मामूली बीच की चाल से चला जाय। बहुत ही धीरे चलना तथा अत्यन्त तेजी से भागकर चलना यह दोनों ही स्थितियां हानि-कारक हैं। बहुत धीरे चलने से यात्रा का क्रम रुक जाता है और नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते है। शरीर को परिश्रम करने की आवश्यकता है यदि कोई व्यक्ति गद्दे तकिया पर पड़ा पड़ा समय बितावे तो नाड़ियां निर्बल हो जायंगी, पाचन शक्ति घट जायगी, इन्द्रियों मे दोष उत्पन्न हो जायगे। इसी प्रकार यदि शरीर से अत्यधिक काम लिया जाय, दिन रात कठोर परिश्रम में जुटा रहा जाय तो भी शक्ति का अधिक व्यय होने से देह क्षीण हो जायगी, परमात्मा ने मन एवं इन्द्रियों के सुन्दर औजार दिये हैं जिनसे जीव अपनी मूल भूत आकांक्षा को पूरी कर सके। पेट को भूख लगती है, बुद्धि को चिन्ता होती है कि भोजन प्राप्त करने का परिश्रम करना चाहिए। मस्तिष्क धन कमाने के उपाय सोचता है, पैर उद्योग धंधे को तलाश में घूमते है, हाथ मजदूरी करते हैं, अन्य अङ्ग भी अपना अपना काम करते हैं। इस सब प्रयत्न

से शरीर के हर अङ्ग की योग्यता बढ़ती है, बुद्धि मस्तिष्क, हाथ, पैर सभी का अभ्यास बढ़ता है और उनकी सामूहिक उन्नति से मनुष्य की गुप्त शक्तियां सुदृढ़ होती जाती हैं। जीव का उतने अंशों में विकाश होता जाता है। पेट को भूख न लगती तो मनुष्य जो निरन्तर उद्योग करता है उसे क्यों करता? अजगर की तरह किसी गुफा में पड़ा सोया करता, जब जी चाहता थोड़ा बहुत घूम लेता। न बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत होती न शरीर को। आज जितनी दौड़ धूप चारों ओर दिखाई पड़ रही है, भूख के न होने पर इसका हजारवां भाग भी दिखाई न पड़ता। सृष्टि सञ्चालन के लिये परमात्मा को जीव की विकाश यात्रा निर्धारित करनी पड़ी और वह यात्रा गड़बड़ में न पड़ जाय इसलिये ऐसी आवश्यकताऐं पीछे लगा देनी पड़ीं जिनसे प्रेरित होकर जीव की विकाश यात्रा निरन्तर जारी रहे।

ऊपर पेट की भूख का उल्लेख किया गया है। ऐसी ही अनेक भूखें मनुष्य को रहती हैं। इनमें से कुछ शारीरिक हैं कुछ मानसिक। इन्द्रियां अपने अपने विषयों को चाहती हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है वरन आत्मोन्नति के लिए आवश्यक हैं। मैथुनेच्छा यदि मनुष्य को न होती तो वह बिलकुल ही स्वार्थी बना रहता। सन्तान के लालन पालन में जो परोपकार की, सेवा की, स्नेह की, दुलार की, कष्ट सहन की, भावनायें जागृत होती हैं वे बिना सन्तान के कैसे होतीं? काम वासना बिना सन्तान न होती, इसलिए सात्विकी वृत्तियों को जगाने के लिये काम वासना की भूख परमात्मा ने मनुष्य को दे दी। इन्द्रियों की भूखें बड़ी ही महत्व पूर्ण हैं इनकी रचना परमात्मा ने बहुत सोच विचार कर की है। इसी प्रकार मनुष्य की सभी शारीरिक और मानसिक वृत्तियां जो जन्म से उसे स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती हैं जीवन

को उन्नत, विकसित, सरस, उत्साह प्रद। एवं आनंदी बनाने के लिए बहुत ही आवश्यक हैं।

अक्सर धार्मिक विद्वान इन्द्रिय भोगों को बुरा, घृणित, पाप पूर्ण, बताया करते हैं। असल में उनके कथन का मर्म यह है कि इन्द्रिय भोगों का दुरुपयोग करना बुरा है। जैसे अभाव बुरा है वैसे ही अति भी बुरी है। भूखा रहने से शरीर का ह्रास होता है और अधिक खाने से पेट में दर्द होजाता है। उत्तम यह है कि मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाय। न तो भूखे रहे और न अधिक खावें वरन् भूख की आवश्यकता को मर्यादा के अन्तर्गत पूरा किया जाय। वास्तविक बात यह है कि अति एवं अभाव को पाप कहते हैं। जैसे धन उपार्जन करना एक उचित एवं आवश्यक कार्य है। इसी में जब अति या अभाव का समावेश हो जाता है तो पाप पूर्ण स्थिति पैदा होती है। धन न कमाने वाले को हरामखोर, निठल्ला, आलसी, अकर्मण्य, नालायक कहा जाता है और धन कमाने की लालसा में अत्यंत तीव्र भावना से जुट जाने वाला लोभी, कंजूस, अर्थ पिशाच आदि नामों से तिरस्कृत किया जाता है। कारण यह है कि किसी बात में अति करने से अन्य आवश्यक कार्य छूट जाते हैं। व्यायाम करना उत्तम कार्य है पर कोई व्यक्ति दिन रात व्यायाम करने पर ही पिल पड़े अथवा हाथ पैर हिलाना भी बन्द करदे तो यह दोनों ही स्थितिया हानिकारक होंगी और विवेकवानों द्वारा उनकी निन्दा की जायगी। विवेक पूर्वक खर्च करना एक मध्यम मार्ग है परन्तु खर्च न करने वाले को कंजूस और बहुत खर्च करने वाले को अपव्ययी कहा जाता है। खर्च करना एक स्वाभाविक कर्म है पर अति या अभाव के साथ वही अकर्म बन जाता है।

लघुता से महानता की ओर, अपूर्णता की पूर्णता और जीवन की यात्रा का प्रवाह बह रहा है। इस चक्र को चालू रखने के लिए शारीरिक और मानसिक स्वाभाविक इच्छा आकांक्षाऐं अपनी भूख प्रकट करती रहती हैं। (१) आरोग्य, (२) ज्ञान वृद्धि, (३) सौन्दर्य, (४) धन, (५) कीर्ति, (६) संगठन, (७) विवाह (८) आत्म गौरव यह आठ वस्तुऐं हर-मनुष्य चाहता है। इनकी शाखा उपशाखाऐं अनेक हैं पर मूलतः यह आठ वृत्तियां ही प्रधान होती हैं। सत् चित् आनंद की तीन इच्छाऐं संसार के पंच भौतिक पदार्थों से टकराकर उपरोक्त आठ टुकड़ों में बँट जाती हैं। आठों प्रहर, इन्हीं आठ कामों की इच्छा अभिलाषाऐं मनुष्य को सताती हैं और वह किसी न किसी रूप में इन्हें तृप्त करने के लिए उद्योग किया करता है। साधु चोर, अमीर गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, सब कोई अपनी आठ मानसिक, वृत्तियों को बुझाने के नाना प्रकार के कर्मों का ताना वाना बुनते रहते हैं। तीन सूक्ष्म आकांक्षाऐं पंच तत्वों के आठ पदार्थों के साथ आठ प्रकार से प्रकट होती हुई हर कोई देख सकता है। पापी और पुण्यात्मा इन कार्यों के अतिरिक्त और कोई कार्यक्रम अपने सामने नहीं रखते।

मध्यम मार्ग से इन वृत्तियों को तृप्त करने वाला इस संसार में धर्मात्मा कहा जाता है और जो अति या अभाव की नीति ग्रहण करता है उसकी शुमार पापियों में की जाती है। जो शरीर को निरोग रखने के लिए प्रातःकाल उठता है, स्नान करता है, दंत धावन, व्यायाम करता है, मस्तिष्क को शीतल रखने के लिए चंदन लगाता है, छना हुआ जल पीता है, रोग नाशक तुलसी पत्रों का सेवन करता है, गंदे आदमियों का छुआ नहीं खाता, व्रत उपवास रखता है, वह धर्मात्मा है।

यह धर्म का मध्यम मार्ग है। दूसरों की रुचि, इच्छा आवश्यकता को ध्यान में रखे बिना अविवेक पूर्वक मनमानी करते रहना अधर्म है। क्यों कि जो स्वार्थी, एकाकी,-हृदय हीन एवं जड़ होगा वही यश अपयश का ध्यान रखे बिना कार्य करेगा। नीति ग्रन्थों में यशकी बड़ी प्रशंसा की है। यशस्वी का जीवन ही जीवन बताया है। यश रहित को निर्जीव की उपमा दी है। शास्त्रकारों का मन्तव्य है कि सुयश संपादित करके यशेच्छा की आध्यात्मिक भूख को बुझाना चाहिए॥ प्रीति भोजों में, मेले उत्सवों में, शहरों में, जाना लोग इसलिए पसंद करते हैं कि वहां रहने वाले बहुत से मनुष्यों की शारीरिक विद्युत की गर्मी से मिलने वाला सुख प्राप्त करें। जाड़े के दिनों में अधिक कपड़े पहन कर उनकी गर्मी से शरीर को सुख मिलता है इसी प्रकार जहां अधिक मनुष्य रहते हैं उन स्थानों में पहुँचने पर उनके शरीरों से निकलने वाली अनेक विद्युत तरंगों से मन प्रसन्न होता है। यश से भी ऐसी ही आध्यात्मिक विद्युत तरंगें प्राप्त होती हैं। प्रशंसक लोग अपनी शुभ कामनाएं और सद्भावनाएं प्रवाहित करते हैं वे सब इकट्ठी होकर यशस्वी व्यक्ति के आस पास इकट्ठी हो जाती हैं और गरम कपड़ों की भांति तथा मित्र मंडली की भांति अदृश्य रूप से आध्यात्मिक सुख पहुँचाती हैं। अपयश के साथ लोगों का रोष, घृणा, विरोध एवं दुर्भाव इकट्ठे होकर उस व्यक्ति पर आक्रमण करते हैं और उसको अन्त करण को व्यथित कर डालते हैं, ऐसे व्यक्ति जिनकी चारों ओर निन्दा होती है बड़े ही दुखी, चिन्तित, उदास, अशान्त देखे जाते हैं। शर्म के भार से उनका मन सदैव दबा हुआ रहता है।

कहीं कहीं कीर्ति की इच्छा को बुरा बताया गया है और यशाकांक्षा छोड़ देने के लिए कहा गया है। वहां 'अति' का

विरोध है। सुकर्म करके प्रशंसा प्राप्त करने के मध्यम मार्ग को उल्लंघन करके जब मनुष्य किसी भी प्रकार दूसरों के मुँह अपनी चर्चा सुनने के लिए लालायित हो जाता है तो वह भले बुरे का विचार छोड़ देता है। 'बदनाम हुए तो क्या नाम न होगा' की नीति अपनालेना यश की अति इच्छा का परिणाम है। झूटे, शेखीखोर, ढोंगी, मनुष्य अपनी यशेच्छा को अत्यंत बढ़जाने देते हैं और उसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की झूठी बातें करते हैं, नाना प्रकार के ढोंग बनाते हैं। बहुत से उच्छृंखल, उद्दंड, भीम कर्मा, अतिसाहसी, लोग भारी जोखिम उठाते हैं, नीति अनीति का विचार छोड़ देते हैं और ऐसे असाधारण कार्य करते हैं जिनसे उनकी चर्चा चारो ओर होने लगे। मुझे भूत चढ़ता है, मुझे देवता के दर्शन हुए मैंने अमुक-अमुक साहसिक कार्य किये, आदि मनगढ़ंत बातें कहकर कई व्यक्ति अपनी विशेषता प्रकाशित करते हैं और उसके कारण होने वाली जन चर्चा से अपनी यशेच्छा को तृप्त करते हैं। किसी स्वतंत्र पुस्तक में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि यशेच्छा के विकृत रूप में लोग नाना प्रकार की बीमारियां और बुरी आदतें भी किस प्रकार अपने अन्दर धारण कर लेते हैं। यश प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि उससे आध्यात्मिक लाभ होता है। परन्तु इसका अभाव और अति दोनों ही हानिकारक होने से अधर्म कहे जाते हैं।

समूह बनाने, मिल जुलकर रहने, संगठन करने की इच्छा ने ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बना दिया है। कुटुम्ब जाति, गोत्र, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि का निर्माण इसी इच्छा ने कराया है, अनेक सभाएं, पार्टी, संगठन, परिवार, सत्संग, गोष्ठी, गिरोह, यूनिटें, अखाड़े, दल, साथ, हम अपने चारों ओर गुप्त एवं प्रकट रूप में फैले हुए देखते हैं। इन सबके मूल

स्वभाव के मनुष्य कर्तव्य परायण एवं धर्मात्मा कहे जाते हैं। इन्सानियत धर्म है। इसके अभाव को हैवानियत और अति को शैतानियत कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक, ईश्वर प्रदत्त, इच्छाओं को कुचलता हुआ दीनता पूर्वक अभाव ग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा है वह आत्मघाती पशुता को अपनाने वाला अधर्मी है। इसी प्रकार वह भी अधर्मी है जो इच्छाओं की अति पूर्ति के लिए व्याकुल होकर मर्यादा को छोड़ बैठा है। दूसरों की परवाह किए बिना, अत्यन्त तीव्र वेग से, इच्छाओ का पूर्ण करने के लिए तूफानी गति से दौड़ता है उस पर पीड़क, शैतानियत को ग्रहण करने वाले को अधर्मी के अतिरिक्त और क्या कहा जाय? अति में पाप है और अभाव से भी पाप है। अत्यन्त धीरे चलने वाला पिछड़ जाता है और अत्यन्त दौड़ने वाला थक कर चूर चूर हो जाता है। इसलिए आप मध्यम मार्ग को ग्रहण कीजिए। दीनता पूर्वक अकर्मण्यता के अज्ञान में पड़े पड़े अभाव ग्रस्त जीवन बिताना छोड़िये! चलिये, उठिये, मनुष्यों की भांति गौरव और सुख शान्ति का जीवन प्राप्त कीजिए! परमात्मा ने आपको जो भूखें दी हैं वे आपकी उन्नति में सहायता के लिए हैं उन्हें पूरा करने के लिए विवेक पूर्वक अपना कार्य-क्रम निर्धारित कीजिए। संसार सब प्रकार की सुविधा जनक सामिग्रियों से भरा पूरा है; फिर आप ही क्यों मलीन, उदास अभावग्रस्त, दीनता पूर्वक जीवन बितावें? उठिए! मध्यम मार्ग को अपनाइए और मनुष्यो का सा सुव्यवस्थि जीवन व्यतीत कीजिए। लेकिन साव-धान रहना कहीं आपकी इच्छाऐं समर्यादित होकर शैतानियत की ओर न खिसक पड़े। घोड़े को "आगे रोक, पीछे ठोक" नीति से कदम चाल चलना सिखाया जाता है। आप जीवन को विकसित कीजिए, किन्तु उसे शैतानियत तक मत बढ़ने दीजिए। मनुष्यता धर्म है इसलिए इसी अमृत मय मध्यम मार्ग पर आरूढ़

होते हुए अपनी मङ्गलमय जीवन यात्रा को आगे बढ़ने दीजिये।

❋ धर्म का मर्म ❋



सृष्टि का निर्माण होने पर जीवों में जब चेतना शक्ति उत्पन्न हुई और वे कुछ कर्तव्य अकर्तव्य के सम्बन्ध में सोचने विचारने लगे तो उनके सामने धर्म अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय भाषा और लिपि का सुव्यवस्थित प्रचलन नहीं था और न कोई धर्म पुस्तक ही मौजूद थी। शिक्षा देने वाले धर्म गुरु भी दृष्टि गोचर न होते थे, ऐसी दशा में अपने अन्दर से पथ प्रदर्शन करने वाली आध्यात्मिक प्रेरणा जागृत होती थी मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते थे। 'वेद अनादि, ईश्वर कृत' हैं इसका अर्थ यह है कि धर्म का आदि स्रोत मनुष्यों द्वारा निर्मित नहीं है वरन् सृष्टि के साथ ही अन्तरात्मा द्वारा ईश्वर ने उसे मानव जाति के निमित्त भेजा था। वेद की भाषा या मन्त्र रचना ईश्वर निर्मित है यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रबुद्ध आत्माओं वाले ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय सन्देश आये और उन्होंने उन संदेशों को मन्त्रों की तरह रच दिया। प्रायः सभी धर्मों की मान्यता यह है कि "उनका धर्म अनादि है, पैगम्बरों और अवतारों ने तो उनका पुनरुद्धार मात्र किया है।"

तत्वतः सभी धर्म अनादि हैं। अर्थात एक ही अनादि धर्म की शाखाएं हैं। उनका पोषण जिस वस्तु से होता है.

एक से चार हुए, कुरान में संशोधन हुआ, बाइबिल तो अनेक अवतारों की उक्तियों का संग्रह है। जब वैदिकी ब्रह्मोपासना आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो भौतिक वादी वाममार्ग की आवश्यकता हुई, जब वाम मार्गी हिन्सा की अति हुई तो भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग चलाया, जब अहिंसा का रोड़ा मानव जीवन के मार्ग में बाधा देने लगा तो शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वेदान्त का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार समस्त विश्व में धार्मिक और सामाजिक अन्तर होते रहे हैं। साम्प्रदायिक नियम और व्यवस्थाओं का अस्तित्व 'समयानुसार परिवर्तन' की धुरी पर घूम रहा है। देशकाल और पात्र के भेद से इनमें परिवर्तन होता है और होना चाहिए। एक नियम एक समय के लिये उत्तम है तो वही कालान्तर में हानिप्रद हो सकता है। गर्मी की रातों में लोग नंगे बदन सोते हैं पर वही नियम सर्दी की रातों में पालन किया जायगा तो उसका बड़ा घातक परिणाम होगा।

संसार के अनेक धर्मों के आदेशों को सामने रखें उनके सिद्धान्त और आदेशों पर दृष्टिपात करें तो वे बहुत बातों में एक दूसरे से विपरीत जाते हुए प्रतीत होते हैं। उनमें विरोधाभास भी दिखाई देता है परन्तु वास्तव में भ्रम में पड़ने की कोई बात नहीं है। अन्धों ने एक बार एक हाथी को छूकर देखा और वे उसका वर्णन करने लगे। जिसने पैर छुआ था उसने हाथी को खम्भे जैसा, जिसने पूंछ छुई थी उसने बांस जैसा, जिसने कान छुआ था उसने पंखे जैसा, जिसने पेट छुआ था उसने चबूतरे जैसा बताया। वास्तव में वे सभी सत्यवक्ता हैं क्योंकि अपने ज्ञान के अनुसार सभी ठीक कह रहे हैं, उनका कहना उनकी परिस्थिति के अनुसार ठीक ही है। परन्तु उसे पूरा नहीं माना जा सकता। देश, काल और

पात्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अवतारी आत्माओं ने विभिन्न समयों पर विभिन्न धर्मों का उपदेश दिया है। भगवान् महावीर को एक मांस भोजी निषाद मिला उन्होंने उसे मांस भोजन त्याग देने के लिए बहुत समझाया पर उस पर कुछ भी असर न हुआ। तब उन्होंने सोचा कि इसकी मनोभूमि इतनी निर्मल नहीं है जो अपने चिरकाल के संस्कारों को एक दम त्याग दे इसलिये उन्होंने धीरे उसे बढ़ने का उपदेश देना उचित समझा। सोच विचार के बाद भगवान् महावीर ने उस निषाद से कहा—अच्छा भाई! कौवे का मांस खाना तो छोड़ दोगे यह भी बड़ा धर्म है। निषाद इसके लिए तैयार हो गया क्योंकि कौवे का मांस खाने का उसे अवसर ही न आता था। जब त्याग का संकल्प कर लिया तो उसके मन में धर्म भावना जागृत हुई और धीरे धीरे अन्य त्यागों को अपनाता हुआ कुछ दिन बाद बड़ा भारी धर्मात्मा, अहिंसा का पुजारी और महावीर का प्रधान शिष्य बन गया। अवतारी महापुरुष जिस ज़माने में हुए हैं उन्होंने उस समय की परिस्थितियों का देश, काल, पात्र का बहुत ध्यान रखा है। अरब में, जिस समय हज़रत मुहम्मद साहब हुए थे उस समय वहां के निवासी अनेक स्त्रियां रखते थे, उन्हें चाहे जब रखते और चाहे जब निकाल देते थे, जब संतान बढ़ती और उनका पालन पोषण न कर पाते तो निर्दयतापूर्वक बच्चों को मार कर फेंक देते, उपयोगी और अनुपयोगी पशुओं की अन्धाधुन्ध हत्या करते थे। उन्हें धीरे धीरे सुधारने के लिए हजरत ने चार स्त्रियां रखने की, बालकों को न मारने की, जीव हत्या एक नियत संख्या में करने की शिक्षा दी। समय बीत जाने पर अब एक व्यक्ति को चार स्त्रियां रखने की आवश्यकता नहीं है, तो देखने में वह शिक्षा अनावश्यक होगई पर उसके मूल में छिपा हुआ

सत्व ज्यों था-त्यों आवश्यक है। "अपनी आवश्यकताओं को घटाओ, भोगों को कम करो।" प्रेम का यह सन्देश उस शिक्षा के मूल में था वह उद्देश्य करोड़ों वर्षों में भी परिवर्तित न होगा।

आप गम्भीरता पूर्वक धर्म तत्व पर दृष्टिपात कीजिए और धर्म की उन नियमं व्यवस्थाओं में कौनसी पवित्र और शाश्वत भावना काम कर रही है उसे ढूंढ़ निकालिए। सत्य शाश्वत है और क़ायदे, क़ानून, विचार, व्यवस्था परिवर्तन शील हैं इस ध्रुव सत्य को हृदयङ्गम करते ही धर्मों का आपसी विरोध वैमनस्य दूर हो जाता है और सभी धर्म सत्य हैं एवम् एक ही नीम पर रखे हुए हैं यह दृष्टि गोचर होने लगता है।

आप जिस सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हैं। उसका सूक्ष्म दृष्टि से, निष्पक्ष परीक्षक की भांति, खरे आलोचक की भाति निरीक्षण कीजिये निस्सन्देह उसमें बहुत सी बातें बहुत ही उत्तम होंगी क्योंकि हर सम्प्रदाय सत्य का सहारा लेकर खड़ा हुआ है। उसमे कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य ही होनी चाहिए। किन्तु यह भी निश्चय है कि समय की प्रगति के साथ उसमें कुछ न कुछ निरुपयोगिता भी अवश्य आई होगी। यदि उस निरुपयोगिता को भी मोह वश छाती से चिपटाये फिरेंगे तो आप अपना बहुत बड़ा आहित करेंगे। दो दिन पूर्व जो भोजन तैयार किया था वह बहुत ही पवित्र, उत्तम, स्वास्थ्य कारक था, पर दो दिन पुराना हो जाने के कारण आज तो वह बासी हो गया। उसमे बदबू आने लगी, स्वाद रहित एवम् हानिकर हो गया। उस बासी भोजन को मोह वश यदि ग्रहण करेंगे तो अपने को रोगी बना लेंगे। साम्प्रदायिक अनुपयोगी रीति रिवाजों की परीक्षा कीजिए और उनको वैसे ही परित्याग कर दीजिए जैसे मरे हुए कुत्ते की लाश को घर से

पैदा कर देते हैं। पिछला कल बीत गया अपनी बहुत सी आवश्यकता अनावश्यकताओं को वह अपने साथ समेट ले गया। आज तो आज की समस्याओं पर विचार करना है। आज के लिये उपयोगी नई व्यवस्था का निर्माण करना है। एक समय में एक रिवाज उत्तम थी केवल इसीलिये वह सदा उत्तम रहेगी यह कोई तर्क नहीं है। हो सकता है कि एक समय "नरमेध यज्ञ" होते हों परन्तु आज उनकी पुनरावृत्ति कौन करेगा? आदिम युग में मनुष्य के पूर्वज दिगम्बर रहते थे। पर आज तो सभी को कपड़ों की आवश्यकता होती है। पहिले लोहे और पत्थर से आग पैदा की जाती थी इसीलिए कोई दियासलाई का बहिष्कार नहीं कर देता। अमुक नगर से अमुक नगर को पहिले पक्की सड़क न थी पर आज बन गई है तो उस पर चलना पाप थोड़े ही कहा जायगा। आप बुद्धि बेच कर पिछले कल की हर बात के अन्ध विश्वासी मत बन जाइए अन्यथा अपने जीवन को दारुण दुःखों में फँसा लेंगे। बन्द गड्ढे का पानी सड़ जाता है। कहीं ऐसा न हो कि रूढ़ियों के, पोंगा पन्थी के, गड्ढे में बन्द पड़ी हुई आपकी बुद्धि सड़ जाय और उसकी दुर्गन्धि से पास पड़ौसियों का सिर फटने लगे। सदैव अपनी चेतना को स्वच्छता की ओर रखिये। घर के कूड़े को जैसे रोज रोज साफ किया जाता है वैसे ही धर्म साधना के लिए अनुपयोगी रीति रिवाजों की सदैव सफाई करते रहा कीजिए। उनके स्थान पर वर्तमान समय के लिए जिन प्रथाओं की आवश्यकता है उनकी आधार शिला आरोपित करने के लिए साहस पूर्वक आगे कदम बढ़ाया कीजिए।

आपको नाना जञ्जालों से भरे हुए सब मतान्तरों की ओर मुड़ कर देखने की जरूरत नहीं है। क्योंकि उनमें से बहुत सी

वस्तुऐं समय से पीछे की हो जाने के कारण निरुपयोगी होगई हैं, उनसें चिपके रहने का अर्थ यह होगा कि अपने हाथ पांव बांध कर अपने को अँधेरी कोठरी में पटक लिया जाय । आप किसी भी धर्म ग्रन्थ, सम्प्रदाय, या अवतार का अनादर मत करिए। क्यों कि भले ही आज उनके कई अंश निरुपयोगी हो गये हैं, पर एक समय उन्होने सामाजिक सन्तुलन ठीक रखने के लिए सराहनीय कार्य किए थे । आप सभी धर्म ग्रन्थों, सम्प्रदायों और अवतारों का आदर करिए और उनमें जो बातें ऐसी प्रतीत हो जिनकी उपयोगिता अब भी बनी हुई हैं उन्हें ग्रहण करके शेष को अस्वीकार कीजिये । हंस की वृत्ति ग्रहण करके दूध को ले लेना और पानी को छोड़ देना चाहिये।

सत धर्म का सन्देश है, कि हे ईश्वर के प्राण प्रिय राजकुमारो ! हे सच्चिदानन्द आत्माओ ! हे नवीन युग के निष्कलंक अग्रदूतो ! अपने अन्तःकरण में ज्योति पैदा करो । अपने हृदयों के कषाय कल्मषों को मथकर निरन्तर धोते रहो। अपने अन्दर पवित्रता, निर्मलता और स्वच्छता को प्रतिक्षण स्थान देते रहो, इससे तुम्हारे अन्दर महत्व जागृत होगा, ऋषित्व उदय होगा। ईश्वर की वाणी तुम्हारे अन्तरात्मा का स्वयं पथ प्रदर्शन करेगी और बतावेगी कि इस युग का क्या धर्म है ? जब आप अनादि सत धर्म को स्वीकार करते हैं तो इस नाना प्रकार के जंजालों से भरी हुई पुस्तकों की ओर क्यों ताकें ? सृष्टि के आदि में जब सत धर्म का उदय हुआ था तो जीवों का पथ प्रदर्शन उनकी अन्तरात्मा में बैठे हुए परमात्मा ने किया था, इसी को 'वेद' या आकशवाणी कहा जाता है। आप पुस्तकों की गुलामी छोड़िए और आकाशवाणी की ओर दृष्टिपात कीजिए । आपकी अन्तरात्मा स्वतन्त्र है, ज्ञान वान है और प्रकाश स्वरूप है । वह आपको आपकी स्थिति

के अनुकूल ठीक-ठीक मार्ग बता सकती है। यह मत सोचिए कि आप तुच्छ, अल्प और असहाय प्राणी हैं और आपको अन्धे की तरह किसी उंगली पकड़ कर ले चलने वाले की जरूरत है। ऐसा विचार करना आत्मा के ईश्वरीय अंश का तिरस्कार करना होगा।

धर्म अधर्म का निर्णय करने के लिए सद् बुद्धि आपको प्राप्त है। उसका निष्पक्ष होकर, निर्भय उपयोग किया कीजिए। मत कहिए कि हमारी बुद्धि अल्प है, हमारा ज्ञान थोड़ा है। हो सकता है कि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से आप पीछे हों परन्तु सद् बुद्धि तो ईश्वर ने सबको दी है। वह आपके पास भी कम नहीं है। दीनता की भावना को आश्रय देकर आत्मा का तिरस्कार मत कीजिए। अपनी सद्बुद्धि पर विश्वास करिए और उसी की सहायता से आज के लिए उपयोगी रीति रिवाजों को स्वीकार कीजिए, यही सच्चा धर्म का मार्ग है।

धर्म और प्रथाएँ



पुरानी रीति रिवाजें माननी चाहिए या नहीं ? इस प्रश्न का विवेचन करते हुए आपको प्राचीनता से राग द्वेष नहीं होना चाहिए। बहुत सी बातें ऐसी हैं जो प्राचीन काल से ऐसे रूप में विद्यमान हैं जो अब भी वैसी ही उपयोगी हैं जैसी कि पूर्व समय में थी किन्तु बहुत सी बातें ऐसी हैं जो बहुत पीछे की होगई हैं और उनकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी है. उनकी मरी हुई लाशों को छाती से चिपकाये रहने से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा वरन् सड़न और दुर्गंध ही बढ़ेगी इस लिए आपका दृष्टि कोण यह नहीं होना चाहिए कि पुरानी बातों के अन्धविश्वासी

रहेंगे या हर बात में उसका विरोध ही करेंगे। आप तो हर एक धर्म विचार और प्रथा कि इस कसौटी पर कसिये कि वह देश, काल, पात्र के भेद भी उपयोगी है या नहीं। यदि उपयोगी प्रतीत हो तो ऐसा मत सोचिए कि नवीन विचार वाले हमें क्या कहेंगे, हमारा उपहास करेंगे। किन्तु यदि पुराने विचारों की आज की परिस्थितिओं से टक्कर न खाय तो उसे निसंकोच त्याग दीजिए। इस प्रथा को कायम रखने के लिए यह विचार बिलकुल निरर्थक है कि अमुक पुस्तक से इसका उल्लेख है या अमुक महापुरुष ने इस बात का आदेश किया था! उन धर्म पुस्तकों का या उन महापुरुषों के प्रति आपके अन्दर अवज्ञा के भाव नहीं होने चाहिये। वरन् आदर करना चाहिए कि अपने समय में अपनी समाज के लिए कैसी सुन्दर व्यवस्था का उन्होने निर्माण किया था। आज उनकी बातें समय से पीछे पड़ गई हैं तो उनसे हम मोह क्यों करें? क्या उन महापुरुषों ने अपने से पूर्व प्रचलित प्रथाओं के साथ मोह किया था? यदि करते तो उनके महत्व पूर्ण मन्तव्य जो हमें आज सुनाई पड़ते हैं प्रकट ही न हुए होते।

रीति रिवाजों का आधार माननीय सुविधा है, इसलिए उन्हें धर्म के साथ संबंधित नहीं किया जा सकता। धर्म के तात्विक सिद्धान्त सार्वभौम होते हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों पर एक समान लागू होते हैं। किन्तु जो जाति भेद, स्थान भेद आदि के कारण बदल जाते हों वे धर्म नहीं कहे जा सकते। हिन्दू सन्ध्या करता है, मुसलमान नमाज पढ़ता है, ईसाई प्रेयर करता है। इनके तरीके-कर्म काण्ड अलग अलग हैं। क्या आप इन तरीकों को ही धर्म कहेंगे? तब तो अपने मजहब वालों के सिवाय अन्य सारी दुनियां अधार्मिक ही कही जायगी। आप हिन्दू हैं और संध्या करते हुए विश्वास करते हैं कि इस प्रकार अन्तरात्मा की वाणी

ईश्वर तक पहुंचाते हैं। ठीक इसी प्रकार एक सच्चे मुसलमान को भी यह मानने का अधिकार है कि वह नमाज द्वारा खुदा तक अपनी पुकार पहुंचाता है। दोनों ही सच्चे हैं। यदि रिवाजों की प्रधानता होती तो दोनों में से एक धार्मिक होता दूसरा अधार्मिक। किन्तु बात ऐसी नहीं है रीति रिवाजों का कोई मूल्य नहीं केवल भावना का महत्व है।

मान लीजिए आप हिन्दू हैं। आपके सामने सनातनी आर्यसमाजी मत भेद आते रहते हैं और सोचते हैं कि इनमें से किसे स्वीकार करना चाहिए किसे नहीं? इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए बाहरी विवादों से कुछ अधिक सहायता न मिलेगी क्योंकि दोनों ही पक्ष वाले अपने अपने मत का समर्थन प्रौढ़ शब्दावली एवम् प्रखर तर्कों द्वारा करते हैं। इस शब्दावली और तर्क समुदाय में हर व्यक्ति उलझ सकता है और अपने को भ्रमित कर सकता है। इस भ्रम से बचने का एक ही सर्वोत्तम उपाय है कि शान्त चित्त से प्रश्न के ऊपर विचार करें। विचार में स्वार्थ-परता, लोक लज्जा, हठ धर्मी इन तीनों ही वस्तुओं को बिलकुल अलग करदें और विशाल दृष्टिकोण, उदार हृदय; निष्पक्ष निर्णय, को अपनाते हुए सोचें कि वर्तमान समय की परिस्थितिओं में कौन प्रथाएं हितकर और कौन अहितकर हैं। पिछली भूमि पर से कदम उठा कर आगे की जमीन पर पांव रखना यह यात्रा का निर्बाध नियम है। आप अब तक असंख्य मील लम्बी यात्रा पार कर चुके हैं और इस बीच में पर्वतातीत लम्बाई की भूमियां में गुजरते हुए उन्हें पीछे छोड़ चुके हैं फिर जिन परिस्थितियों में पड़े हुए हैं उन्हें देखने की झिझक क्यों? अपने को किन्हीं

संकुचित रस्सियों में मन बांधिए क्योंकि आप स्वतंत्र थे और अब स्वतंत्रता प्राप्त करने लिये विजय यात्रा कर रहे हैं। 'सत्य की शोध' यही जीवन का कार्य होना चाहिये। रूढ़िवाद यदि आपको अपनी सड़ी गली रस्सियों में जकड़े रहे और विकास क्रम को रोक कर अधिकाधिक स्वतंत्र विचार धारा अपनाने से वंचित करदे तो समझिये कि आपने गलत चीज अपनाली। धर्म के नाम पर उसकी सड़ी गली पीप को आपने बटोर लिया। यह पीप किसी समय में पुष्ट मांस रहा था वह समझ कर उसे चुल्लू में भरे फिरना योग शास्त्र की दृष्टि में बिलकुल मूर्खता पूर्ण है।

रसोई करने के लिये लकड़ी धोकर काम में लानी चाहिए या नहीं? नल का पानी पीना चाहिए या नहीं? कपड़े पहन कर भोजन करना चाहिए या नहीं? अमुक व्यक्ति को छूकर स्नान करना चाहिए या नहीं? रात्रि में भोजन करना चाहिए या नहीं? पानी छान कर पीना चाहिए या नहीं? अमुक के घर रसोई ग्रहण करनी चाहिए या नहीं? आदि प्रश्नों का उत्तर देने मे हम बिलकुल असमर्थ हैं, यह बातें किसी स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता से पूछनी चाहिए। क्योंकि इन खान पान संबंधी बातों का धर्म से कोई संबंध नहीं है बल्कि यह सब प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की अपेक्षा करते हैं। एक समय था जब कानूनों की सीमा छोटी थीं और धर्म शास्त्र के अन्तर्गत स्वास्थ्य, समाज, राजनीति, ग्रहस्थि, अर्थ शास्त्र, आदि सब बातें आ जाती थीं। आज यह व्यवस्था बदल गई है। धर्म को हम आध्यात्म शास्त्र या योग शास्त्र कहते हैं जो कि अपरिवर्तन शील है। अन्य नियमोपनियम देश काल की अपेक्षा करते हैं इसलिये उन्हें भौतिक भूमिका में जाकर स्वतंत्र शास्त्र बना दिया गया है, यद्यपि उन पर अंकुश धर्म का ही है। इसलिए

अब खान पान, शौच स्नान का प्रश्न स्वास्थ्य विज्ञान की आधार शिला पर स्थिर होना चाहिए। यदि कोई प्राचीन धर्म पुस्तक कहती है कि ब्राह्मण के हाथ का भोजन ठीक है किन्तु स्वास्थ्य विज्ञान कहता है कि गन्दे पन, बीमार या बुरी आदतों के कारण अमुक व्यक्ति के हाथ का भोजन न करना चाहिए तो हम आपको स्वास्थ्य विज्ञान के निर्णय को मानने की ही सम्मति देंगे। नल का पानी, कच्ची पक्की रसोई, छूआ छूत, इन बातों में स्वास्थ्य शास्त्र का आदेश ही माननीय है। आध्यात्म शास्त्र इन मामलों में बहुत उदार है और वह अकारण अधिक प्रतिबंध एवं संकीर्णता में मनुष्य जाति को फंसाने की इच्छा नहीं करता।

इसी प्रकार लड़की लड़कों का विवाह किस उम्र में करना चाहिए यह प्रश्न स्वास्थ्य से ही संबंध रखता है। जिस आयु में संतानोत्पादन की स्वभाविक आवश्यकता होती है, उस उम्र में विवाह होना चाहिए। जिस आयु में काम विकारों को भड़काने की नहीं वरन् बालकों को उससे बचाने की आवश्यकता होती है उस आयु में विवाह करने की आज्ञा कोई धर्म शास्त्र नहीं दे सकता।

दाम्पत्ति जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, इसका उत्तर समाज शास्त्र के अन्तर्गत होगा, विवाहित स्त्री पुरुष यदि दूसरे से संतुष्ट न रहें तो उनमें कलह पैदा होगा और कलह पड़ौसियों पर बुरा प्रभाव डालेगा एवं संतान को घृणास्पद बनावेगा ऐसी संतान भार रूप ही होगी समाज की शान्ति और सुव्यवस्था में इसी पर निर्भर है कि स्त्री पुरुष आपस में संतुष्ट रहें, एक दूसरे से प्रेम रखें। पतिव्रत और पत्नीव्रत का पूर्ण रूप से पालन किया जाय। दुराचार की कोई इच्छा तक न करें। यदि एक व्यक्ति दुराचार की

इच्छा करता है और अपनी वासना के लिए दूसरे को तैयार कर लेता है तो उन दोनों के घोर विचार दूसरों में वैसे ही भावनायें उपजाते हैं। यह अवांछनीय सबंध जब प्रकट होते हैं तो घृणा, द्वेष, अपमान तिरस्कार, आदि के भाव पैदा होते हैं जिससे समाज का बड़ा अनिष्ट होता है। यह सब बातें बतलाती हैं कि समाज शास्त्र की दृष्टि से स्त्री पुरुषों को पतिव्रत और पत्नीव्रत पालन करना चाहिए। एक स्त्री का एक ही पुरुष से संबंध होना चाहिए।

परन्तु उपरोक्त नियम अपरिवर्तन शील नहीं है। पर्वतीय प्रदेशों मे जहां लड़कियां कम और लड़के अधिक उत्पन्न होते हैं। वहां ऐसे रिवाज पाये जाते हैं कि एक पिता के जितने पुत्र हों वे सम्मिलित रूप से एक लड़की के साथ विवाह कर लेते हैं इसी प्रकार वह एक स्त्री चार छै प शाली होती है। उन प्रदेशों में यह प्रथा सर्वथा धर्म सम्म है। पांच पाण्डवों की एक स्त्री द्रोपदी का होना प्रसिद्ध है इस प्रकार इन प्रदेषों में स्त्रियां अधिक और पुरुष कम ह हैं वहां एक पुरुष को कई विवाह करने की अनुमति इस्लाम धर्म वाले मानते हैं कि एक एक पुरुष को चार स्त्रि तक रखने की ईश्वरीय आज्ञा है। ईसाई सभ्यता के अनुस दाम्पत्ति सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य स्त्री पुरुषों स्वय करना होता है। इसलिए वे बहुतों में से एक को च हैं। इस चुनाव कार्य मे यदि कई कई संबंध बनाने विग पड़ते हैं तो उस समाज के अनुसार यह कार्य कुछ भी चित नहीं है। सन्तानोत्पादन का अभाव या वश मर्या नाश होने पर प्राचीन पुस्तकों में कुछ छूटें दी गई हैं कि महाभारत की कथानुसार व्यास जी को वंश रक्षा के परस्त्री गमन निषेध का अपवाद उपस्थित करना पड़ा

यह छूटें समाज विभिन्नता, स्थिति विशेष और कारण विशेष के कारण कभी कभी होती हैं। साधारतः मनुष्य जाति का सुरक्षा का मार्ग यही है कि दाम्पत्ति जीवन आदर्श हो और एक दूसरे से सर्वथा सन्तुष्ट रहें।

अफ्रीका की कुछ असभ्य जातियों में अब तक ऐसी रिवाज मौजूद है कि यदि किसी पुरुष की स्त्री की मृत्यु हो जाय तो उस पुरुष को भी स्त्री के साथ जला दिया जाता है। फिलीपाइन द्वीपों में एक जाति मे ऐसी रिवाज है कि विधुर पुरुष को कोई छूता नहीं वह जीवन भर मुंह पर कपड़ा ढांके रहता है जिससे कोई उस पापी का मुंह न देखे। तिब्बत में मृत पत्नी के पति को फिर कोई स्त्री नहीं छूती यहां तक कि माता और पुत्री भी उसे स्पर्श नहीं करतीं। दूसरी स्त्री का उसके साथ विवाह होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ठीक इसी प्रकार की प्रथा भारतवर्ष की सवर्ण कही वाली जातियों में प्रचलित है जिसके अनुसार विधवा स्त्रियों को उसी दशा में रहना होता है जैसा कि अफ्रीका, तिब्बत और फिलीपाइन की कुछ असभ्य जातियों में पुरुषों को रहना पड़ता है। योग शास्त्र ऐसा रीति रिवाजों को वर्तमान समय से बहुत पीछे की समझता है। स्त्री-पुरुष वास्तव में दो स्वतन्त्र सत्तायें हैं। एक दूसरे को आगे बढ़ने के कार्य में सहायता दें ईश्वर ने इस उद्देश्य से दो भिन्न लिंग पैदा किए हैं। वे एक स्वतन्त्र सहयोगी हैं। एक के न रहने से दूसरा का उन्नति क्रम रुद्ध कर दिया जाय यह कोई मुनासिब बात नहीं है। संयम, ब्रह्मचर्य बड़ी सुन्दर वस्तुयें हैं कोई व्यक्ति बाल ब्रह्मचारी रहे तो सच्चे एवम, विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे तो भी ठीक है, विधवा या विधुर होने पर कामवासना को त्याग सकें तो भी अच्छा है, परन्तु यह ऐच्छिक

प्रश्न है। बलात्कार पूर्वक कराया गया संयम असल में कोई संयम नहीं है। इस प्रकार लोक व्यवहार के दैनिक कार्यों में मित्रता, शत्रुता, विवाह बन्धन आदि के संबंध में धर्म शास्त्र बहुत उदार है। वह मनुष्य जाति की एकता, अखंडता, व्यापकता, समानता को स्वीकार करता है, भाई से भाई को जुदा करने की, मनुष्य को मनुष्य से अलग हटाने की, रूढ़ियों के संकुचित दायरे में बांधने की, उन्नति के मार्ग में बाधा डालने की और आत्मिक स्वतन्त्रता में प्रतिबंध लगाने की धर्म कदापि इच्छा नहीं करता। आप धर्म को ग्रहण करिए और अधर्म के अज्ञान को कूड़े की तरह झाड़ू से बुहार कर घर से बाहर फेंक दीजिए।

❀ बहुत के लिए थोड़े का त्याग ❀

द्विविधा पूर्ण गुत्थी को सुलझाने के लिए "बहुत के लिए थोड़े का त्याग" की नीति बहुत ही उपयुक्त है। किसान जब बीज बोज बोता है तो फसल पर विशाल अन्न राशि प्राप्त करने की इच्छा से घर मे रखा हुआ अन्न खेत में बखेर देता है। व्यापारी अपना कारोबार आरम्भ करता है लाभ की आशा से नकद पूंजी को माल असबाब में फँसा देता है। महाजन सूद की आशा से अपना रुपया कर्जदार को दे देता है। कारण यह है कि हर एक बुद्धिमान व्यक्ति इस नीति से भली प्रकार परिचित है कि अधिक लाभ के लिए थोड़ी जोखम उठाना भी आवश्यक है। बीमार होने पर सोने चांदी के जेवर बेच कर भी दवा दारू कराई जाती है, यद्यपि सोना चांदी प्रिय वस्तुएं हैं तो भी जिन्दगी के मुकाबिले में उनका मूल्य कम है, इस लिए अधिक मूल्य की वस्तु के लिए कम मूल्यवान

वस्तु खर्च करदी जाती है। नामवरी के कामों में, धर्म कार्यों में, गाढ़ी कमाई का पैसा खर्च कर दिया जाता क्यों कि यश से, पुण्य कर्म से, मन को जो आनंद मिलता है वह पैसा जमा करने के आनंद की अपेक्षा अधिक महत्व पूर्ण होता है। घाव में कीड़े पड़ गये हैं। डाक्टर देखता है कि यदि कीड़े जीवित रहेंगे तो रोगी मर जायगा। उसके सामने धर्म संकट आता है कि कीड़ों को मरने दूं या रोगी को मरने दूं ? बुद्धि कहती है कीड़ों की अपेक्षा संसार के लिए मनुष्य अधिक उपयोगी है। डाक्टर घाव पर विषैली दवा लगाता है और मनुष्य के लिए कीड़ों को मर जाने देता है। बच्चे के पांव में कांटा घुस गया है, निकालने के लिए उस स्थान को छूते ही बालक दर्द के मारे चिल्लाता है, माता सोचती है निकालने में इसको कष्ट होता है पर यदि कांटा लगा रहेगा तो कष्ट की मात्रा अनेक गुनी बढ़ जायगी इस लिए वह जबरदस्ती करती है। बच्चे के हाथ पांव पकड़ कर कांटा निकालती है, बच्चा चीखता चिल्लाता है पर वह तो निकाल कर ही मानेगी। कारण यह है कि माता का विवेक उससे कहता है कि बड़े कष्ट का निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देने में कोई हर्ज नहीं है। समाज के लिए हानि पहुँचाने वाले हिंसक हत्यारे डाकू लोग अदालत द्वारा मृत्यु दंड पाते हैं। एक आदमी की जान जा रही है पर उससे असंख्य व्यक्तियों की प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कठिनाई का निवारण होता है सज्जन जज उस हिंसा को पसन्द नहीं करता जो मृत्युदंड देने में होती है। बहुत के लाभ के लिए थोड़ी हानि भी उठाई जा सकती है।

त्यागी, साधु पुरुष अन्य लोगों को सुखी बनाने के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं वे स्वयं कष्ट पूर्वक निर्वाह करते हुए भी अन्य लोगों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते

हैं। क्यों कि वे समझते हैं कि हमारे अकेले के कष्ट से यदि अनेक प्राणियों को सुख मिलता है तो वही अधिक लाभ है। वीर क्षत्राणियां अपने पतियों को युद्ध भूमि में प्रसन्नता पूर्वक भेज देती हैं और वैधव्य को स्वीकार कर लेती हैं, क्यों कि सुहाग सुख की अपेक्षा कर्तव्य को वे ऊँचा मानती हैं। सती साध्वी महिलाएं सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों पर खेल जाती हैं उनका विश्वास होता है कि शरीर की अपेक्षा सतीत्व का महत्व-अधिक है। श्रेष्ठ पुरुष अपमान की जिन्दगी से आबरू की मौत पसंद करते हैं क्यों कि वे जिन्दगी से आबरू को बड़ा मानते हैं।

दार्शनिक यीगल ने अपने ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या करते हुए "अधिक लोगों के अधिक लाभ" को प्रधानता दी है। जिस काम के करने से समाज की सुख शान्ति में वृद्धि होती हो उसके लिए थोड़े लोगों को कुछ कष्ट भी दिया जा सकता है। करोड़ों गरीबों को भोजन देने के लिए यदि पूँजीवादी व्यवस्था बदलनी पड़े और उससे थोड़े पूँजी पतियों को कुछ कष्ट होता हो तो वह सहन करना पड़ेगा। पशु वध बन्द होने से कसाई के कुत्तों को भूखा रहना पड़े तो उसे बर्दाश्त कर लिया जायगा। बड़े कष्ट को निवारण करने के लिए छोटा कष्ट देना पड़े तो वह एक सीमा तक क्षम्य है। एक मनुष्य भूखा मर रहा हो और दूसरा आवश्यकता से बहुत अधिक भोजन लादे फिरता हो तो भूखे की प्राण रक्षा के लिए दूसरे से थोड़ा अन्न बल पूर्वक छीन करके भी दिया जा सकता है।

यहां एक पेचीदगी उपस्थित होती है उसका मर्म भली प्रकार समझ लेना चाहिए। अधिक का अर्थ व्यक्तियों की 'अधिक संख्या' नहीं है वरन् 'अधिक लोगों का सामूहिक

हित अहित'। राम के सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि एक सीता के लिए हजारों राक्षसों को क्यों मारें ? कृष्ण के सामने यह प्रश्न था कि पांच पाण्डवों के सुख के लिए लाखों सेना का संहार क्यों किया जाय ? संख्या की दृष्टि का यदि यहाँ विचार किया जाता तो राक्षसों और कौरवों का संहार न होता। परन्तु तत्व ज्ञान के अनुसार यहां अधिक का तात्पर्य 'अधिक लोगों का सामूहिक हित है अर्थात् समाज व्यवस्था है। यदि राम ने रावण के दल को मारकर उसकी दुष्टता का दंड न दिया होता तो महिलाओं के अपहरण की प्रवृत्ति बढ़ती। अनेक सीताऐं भगाई जातीं और अनेक रावण जहां तहां पैदा हो जाते। इस प्रकार मनुष्य समाज की सामूहिक व्यवस्था भंग होकर बड़ी भारी अशान्ति उपस्थित हो जाती। एक पथिक को चार डाकू लूट रहे हों तो संख्या की दृष्टि से तो पथिक को लुटेरों से नहीं बचाना चाहिए क्यों कि वह एक है और लुटेरे चार। एक की हानि होती है और चार को लाभ। परन्तु बात ऐसी नहीं है। पथिक का पक्ष न्यायानुकूल है, लुटेरे उस व्यवस्था को तोड़ रहे हैं जो अरबों मनुष्यों की आकांक्षा से बनाई गई है। इस लिए पथिक अकेला होते हुए भी अरबों मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करता है। और लुटेरे केवल अपने शरीरों का ही प्रतिनिधित्व करते हुए केवल चार ही हैं। अतएव पथिक का ही पलड़ा भारी रहा इसी को सहायता प्राप्त होनी चाहिए। सीता एक थी फिर भी उसका पक्ष व्यवस्थानुकूल निर्दोष होने के कारण बहुत भारी था। उसके मुकाबिले में राक्षस बहुत ही हल्के थे। इस तात्विक पेचीदगी को समझ लेने के उपरान्त पाठक समझ जांयगे कि "बहुत के लिए थोड़े का त्याग" नीति के अन्तर्गत स्थूल दृष्टि से भौतिक परिणाम में साधारणतः संख्या को महत्ता दी

जाती है तो संख्या को महत्व देना ठीक है। परन्तु यदि एक पक्ष न्याय पर है और दूसरा अन्याय पर है तो न्याय पक्ष की ही सहायता करनी चाहिए क्योंकि चाहे संख्या की दृष्टि से वह पिछड़ा भलेही हो पर समाज व्यवस्था के अनुकूल होने के कारण तत्वतः वही अधिक संख्या वाला है। अन्यायी चाहे बहुत ही क्यो न हों पर सम्पूर्ण मानव जाति के मुकाबिले मे वे कम ही हैं इसलिए बहुत के लिए उन 'कम' को छोड़ दिया जायगा। निर्दोष की सहायता की जायगी और अत्याचारी का विरोध किया जायगा। अन्य लोगों के विषय में धर्म संकट आने पर उसे इस रीति से सुलझाया जा सकता है।

मानव अन्तःकरण पाप कर्मों से प्रफुल्लित नहीं होता वरन् दिन दिन दुःखी, दुर्बल होता जाता है। उसका स्वाभाविक भोजन वे आचार विचार हैं जिन्हें सात्विक, पुण्यमय, निष्पाप, पवित्र एवम् परमार्थ कहते हैं। इसी आहार से आत्मा की भूख बुझती है और बल प्राप्त करके अपनी महान यात्रा को आगे बढ़ाने में समर्थन होती है।

निस्सन्देह हम सबके सामने आज एक धर्म संकट उपस्थित है। एक ओर पाप कर्मों द्वारा शरीर सुखों की प्राप्ति होती है, दूसरी ओर पुण्य कर्मों द्वारा आत्म-सुख का लाभ होता है। विवेक बुद्धि कहती है 'बहुत के लिए थोडे का त्याग करो' नाशवान शरीर की क्षणिक लालसाओं को तृप्त करने की अपेक्षा स्थायी, अनन्त, सच्चे आत्म सुख को प्राप्त करो। शरीर को भले ही कष्टों की स्थिति में रहना पड़े परन्तु सद् वृत्तियों द्वारा प्राप्त होने वाले सच्चे सुख को हाथ से मत जाने दो। ठीकरी को छोड़ो और अशर्फी का ग्रहण करो, "बहुत के लिए थोड़े का त्याग करो।"

मनुष्य को देवता बनाने वाली पुस्तकें।

यह बाजारू किताबें नहीं हैं, इनकी एक एक पंक्ति के पीछे गहरा अनुभव और अनुसंधान है। विनम्र शब्दों में हमारा दावा है कि इतना खोज पूर्ण अलभ्य साहित्य इतने स्वल्प मूल्य में अन्यत्र नहीं मिल सकता

१—मैं क्या हूं ? |=)
२—सूर्य चिकित्सा विज्ञान |=)
३—प्राण चिकित्सा विज्ञान |=)
४—पर काया प्रवेश |=)
५—स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या |=)
६—मानवीय विद्युत के चमत्कार |=)
७—स्वर योग से दिव्य ज्ञान |=)
८—भोग में योग |=
९—बुद्धि बढ़ाने के उपाय |=
१०—धनवान बनने के गुप्त रहस्य |=
११—पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि |=
१२—वशीकरण की सच्ची सिद्धि |=
१३—मरने के बाद हमारा क्या होता है ? |=
१४—जीव जन्तुओं की बोली समझना |=
१५—ईश्वर कौन है ? कहां है ? कैसा है ? |=
१६—क्या धर्म ? क्या अधर्म ? |=
१७—गहना कर्मणोगतिः |=